श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

आत्मधर्म

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३५ : अंक १२ [४२०] जून, १९८०

आत्मधर्म [४२०]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल तथा कन्नड़ — इन पाँच भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

कहाँ / क्या

१ देखे सुखी सम्यक्वान
२ ध्रुव में से धर्म लो
३ संपादकीय : जिनवरस्य नयचक्रम्
४ अहमिक्को खलु सुद्धो
[समयसार प्रवचन]
५ सम्यक् रत्नत्रय
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र

जैसे शास्त्रों का मूल अकारादि वर्ण हैं, तप आदि गुणों के भंडार साधु में मूल सम्यक्त्व है, धातुवाद में पारा है; वैसे ही अनेकांत का मूल नय है।

नय के बिना मनुष्य को स्याद्वाद का बोध नहीं हो सकता। इसलिए जो एकांत को परिहार करना चाहता है, उसे नय को जानना चाहिए।

— माइल्लधवल

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३५ [४२०] अंक : १२

देखे सुखी सम्यक्वान।देखे०॥

सुख-दुःख को दुखरूप विचारैं,
धारैं अनुभव ज्ञान।देखे०॥

नरक सातमें के दुःख भोगें,
इन्द्र लखें तिन मान।
भीख मांग कै उदर भरैं,
न करैं चक्री को ध्यान।देखे०॥

तीर्थंकर पद को नहिं चावें,
जदपि उदय अप्रमान।
कुष्ट आदि बहु व्याधि दहत,
न चहत मकरध्वज थान।देखे०॥

आदि-व्याधि निरबाध अनाकुल,
चेतन जोति पुमान।
'द्यानत' मगन सदा तिहि माहीं,
नाहीं खेद निदान।देखे०॥

बीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से बीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

ध्रुव में से धर्म लो

धर्म की बात सुनकर जीवों को विचार आता है कि—धर्म लें कहाँ से ? शरीर की क्रिया में से धर्म आता होगा, पुण्य में से आता होगा, या किसी स्थान विशेष में से मिलता होगा ?

आचार्यदेव समझाते हैं कि—' ध्रुव में से धर्म लो।' तुम्हारा ध्रुव आत्मा ही धर्म की खान है; वही धर्म का स्थान है, उसी में से तुम्हारा धर्म आता है। इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया में से, राग में से, बाह्य स्थानों में से, या अन्यत्र कहीं से धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

धर्म जहाँ होगा वहीं से आवेगा या कहीं बाहर से ? भाई ! तुम्हारा धर्म तुम्हारे आत्मस्वभाव में ही है, तुम से बाहर कहीं तुम्हारा धर्म नहीं है; इसलिये बाहर से धर्म नहीं आवेगा। अपने आत्मस्वभाव में ही अंतर्मुख होकर उसमें से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करो। जिसप्रकार रत्नों की खानि में से ही रत्न निकलते हैं; उसीप्रकार चैतन्यरत्न की ध्रुव खानि आत्मा है, उसकी गहराई में उतरकर उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्न निकालो।

— आत्मधर्म, वर्ष १५, अंक १८०, अप्रेल १९६०, कवर पृष्ठ ३

नयों की प्रामाणिकता

वस्तुस्वरूप के अधिगम एवं प्रतिपादन में नयों का प्रयोग जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है। अन्य दर्शनों में नय नाम की कोई चीज़ ही नहीं है; सर्वत्र प्रमाण की ही चर्चा है।

जैनदर्शन में तत्त्वार्थों के अधिगम के उपायों की चर्चा में प्रमाण और नय—दोनों का समानरूप से उल्लेख है।[१]

अतः यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि नय प्रमाण हैं या अप्रमाण। यदि अप्रमाण हैं तो उनके प्रयोग से क्या लाभ है ? और यदि प्रमाण हैं तो प्रमाण से भिन्न हैं या अभिन्न। यदि अभिन्न हैं तो फिर उनके अलग उल्लेख की आवश्यकता नहीं और भिन्न हैं तो फिर नय प्रमाण कैसे हो सकते हैं, अप्रमाण ही रहे।

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य विद्यानंदि इसप्रकार देते हैं:—

''नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥१०॥[२]

नय न तो अप्रमाण है और न प्रमाण है, किंतु ज्ञानात्मक है; अतः प्रमाण का एकदेश है—इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।''

इसी बात को स्पष्ट करते हुए सिद्धांताचार्य पंडित कैलाशचंदजी लिखते हैं—

''शंकाकार कहता है कि यदि नय प्रमाण से भिन्न है तो वह अप्रमाण ही हुआ क्योंकि प्रमाण से भिन्न अप्रमाण ही होता है। एक ज्ञान प्रमाण भी न हो और अप्रमाण भी न हो, ऐसा तो

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः' : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : नयविवरण, श्लोक १०

संभव नहीं है क्योंकि किसी को प्रमाण न मानने पर अप्रमाणता अनिवार्य है और अप्रमाण न मानने पर प्रमाणता अनिवार्य है—दूसरी कोई गति नहीं है।

इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि प्रमाणता और अप्रमाणता के सिवाय भी एक तीसरी गति है, वह है प्रमाणैकदेशता—प्रमाण का एकदेशपना। प्रमाण का एकदेश न तो प्रमाण ही है क्योंकि प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; और न अप्रमाण ही है क्योंकि प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। देश और देशी में कथंचित् भेद माना गया है।''[१]

श्लोकवार्तिक में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है, वह इसप्रकार है:—

''स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥४॥
नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥५॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुता वा स्यात्तत्त्वे क्वाऽस्तु समुद्रवत् ॥६॥
यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता।
तथांशेष्वपि किन्न स्यादिति मानात्मको नयः ॥७॥
तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ॥८॥
धर्मधर्मिसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ॥९॥[२]

स्व और अर्थ का निश्चायक होने से नय प्रमाण ही है—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्व और अर्थ के एकदेश को जानना नय का लक्षण है ॥४॥

वस्तु का एकदेश न तो वस्तु है और न अवस्तु है। जैसे—समुद्र के अंश को न तो समुद्र कहा जाता है और न असमुद्र कहा जाता है। यदि समुद्र का एक अंश समुद्र है तो शेष अंश

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र : पृष्ठ २३१-२३१, श्लोक १० की व्याख्या
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : नयविवरण, श्लोक ४-९

असमुद्र हो जायेगा और यदि समुद्र का प्रत्येक अंश समुद्र है तो बहुत से समुद्र हो जायेंगे और ऐसी स्थिति में समुद्र का ज्ञान कहाँ हो सकता है ? ॥५-६ ॥

जैसे अंशी वस्तु में प्रवृत्ति करनेवाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है, वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करनेवाले अर्थात् जाननेवाले नय को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता; अतः नय प्रमाणस्वरूप ही है ॥७ ॥

उक्त आशंका ठीक नहीं है क्योंकि जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं, उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की ही प्रवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अतः उसका ज्ञान नय है। और धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु के धर्मों और धर्मी दोनों को प्रधानरूप से जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

अतः नय प्रमाण से भिन्न है ॥८-९ ॥''

प्रमाण और नय का अंतर स्पष्ट करते हुए धवलाकार लिखते हैं:—

''किं च न प्रमाणं नयः, तस्यानेकान्तविषयत्वात्। न नयः प्रमाणं, तस्यैकान्तविषयत्वात् ॥[१]

प्रमाण नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय अनेकांत अर्थात् अनेकधर्मात्मक वस्तु है। न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उसका विषय एकांत अर्थात् अनंत धर्मात्मक वस्तु का एक अंश (धर्म) है।''

प्रमाणशास्त्र के विशेषज्ञ आचार्य अकलंकदेव तो नय को सम्यक्-एकांत और प्रमाण को सम्यक्-अनेकांत घोषित करते हुए लिखते हैं:—

'सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्।[२]

सम्यगेकान्त नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। नयविवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय करानेवाली होने से एकांत है और प्रमाणविवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चयस्वरूप होने के कारण अनेकांत है।

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृष्ठ ५१६

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६

प्रमाण सर्व-नयरूप होता है क्योंकि नय वाक्यों में 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलने को प्रमाण कहते हैं।[१] अस्तित्वादि जितने भी वस्तु के निज स्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करनेवाला प्रमाण है और उन्हें गौण-मुख्य भाव से ग्रहण वाला नय है।[२]

प्रमाण और नय को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हुए पंचाध्यायीकार लिखते हैं—

''तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतम्।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम्॥७४७॥
यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत्।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति॥७४८॥[३]

'तत्त्व अनिर्वचनीय है'—यह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। 'द्रव्य गुणपर्यायवान है।'—यह पर्यायार्थिकनय का पक्ष है और 'जो यह अनिर्वचनीय है वही गुणपर्यायवान है, कोई अन्य नहीं, और जो यह गुणपर्यायवान है वही तत्त्व है'—ऐसा प्रमाण का पक्ष है।''

यद्यपि इसप्रकार हम देखते हैं कि नय प्रमाण से भिन्न है, तथापि उसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है। वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में वह प्रमाण के समान ही प्रमाण (प्रामाणिक) है।

जैनदर्शन की इस अनुपम कथन शैली को अप्रमाण समझकर उपेक्षा करना उचित नहीं हैं, अपितु इसे भलीभाँति समझकर इस शैली में प्रतिपादित जिनागम और जिनाध्यात्म का रहस्य समझने का सफल यत्न किया जाना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इसके जाने बिना जैनदर्शन का मर्म समझ पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी संभव नहीं है।

मूलनय : कितने ?

जिनागम में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर नयों के भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया गया है। यदि एक स्थान पर दो नयों की चर्चा है तो दूसरी जगह तीन प्रकार के नयों का उल्लेख मिलता है। इसीप्रकार यदि तत्त्वार्थसूत्र में सात नयों की बात आती है।[४] तो प्रवचनसार में ४७ नय बताये गये हैं।[५]

---

१. स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८, पृष्ठ ३२१
२. वृहन्नयचक्र (देवसेनकृत), गाथा ७१
३. पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, गाथा ७४७-७४८
४. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३३
५. प्रवचनसार, परिशिष्ट

'गोम्मटसार' व 'सन्मतितर्क' में तो यहाँ तक लिखा है—

''जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति नयवादा।[१]

जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं अर्थात् नय के भेद हैं।''

'श्लोकवार्तिक' के 'नयविवरण' में श्लोक १७ से १९ तक आचार्य विद्यानंदि लिखते हैं कि नय सामान्य से एक, विशेष में संक्षेप में दो, विस्तार से सात, और अति विस्तार से संख्यातभेद वाले हैं।

धवलाकार कहते हैं कि अवांतर भेदों की अपेक्षा नय असंख्य प्रकार के हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है:—

''एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः। अवान्तर भेदेन पुनरसंख्येयाः॥[२]

इस तरह संक्षेप में नय सात प्रकार के हैं और अवांतर भेदों से असंख्यात प्रकार के समझना चाहिए।''

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार नय अनंत भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनंत हैं, अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनंत विकल्परूप हो जाते हैं।[३]

प्रवचनसार में भी अनंत नयों की चर्चा है।[४]

नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसी विषयभूत अनंतधर्मात्मक वस्तु। विस्तार तो बहुत है किंतु 'नयचक्र' और 'आलापपद्धति' में मूलनयों की चर्चा इसप्रकार की गयी है—

''णिच्छयववहारणया मूलिमभैया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेउ पज्जयदव्वत्थियं मुणह॥१८२॥[५]

सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार—ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक—ये दोनों निश्चय व्यवहार के हेतु हैं।''

---

१. (क) गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा ८९४, (ख) सन्मतितर्क, का० ३, गाथा ४७

२. धवला, पुस्तक १, खंड १, भाग १, सूत्र १, पृष्ठ ९१

३. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०२

४. प्रवचनसार परिशिष्ट

५ (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८२, (ख) आलापपद्धति, गाथा ३

उक्त छंद का अर्थ इसप्रकार भी किया गया है:—

''नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं, उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, ऐसा समझना चाहिये।''[१]

नयचक्र के उक्त कथन में जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार को मूलनय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसी नयचक्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों को मूलनय बताया गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बतानेवाली गाथा इसप्रकार है:—

''दो चेव य मूलणया, भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा॥१८३॥[२]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो ही मूलनय कहे हैं, अन्य असंख्यात संख्या के लिये इनके ही भेद जानना चाहिये।''

इसप्रकार दो दृष्टियाँ सामने आती हैं। एक निश्चय-व्यवहार को मूलनय बतानेवाली और दूसरी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बतानेवाली।

दोनों दृष्टियों में समन्वय की चर्चा भी हुई है।

पंचाध्यायीकार ने व्यवहार और पर्यायार्थिक नय को कथंचित् एक बताते हुए कहा है:—

''पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थोयस्मादिह सर्वोऽप्युपचार मात्रः स्यात्॥५२१॥[३]

पर्यायार्थिक कहो या व्यवहारनय—इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचारमात्र है।''

नयचक्र की गाथा १८२ का दूसरे प्रकार से किया गया उक्त अर्थ भी दोनों में समन्वय का ही प्रयास लगता है।

यद्यपि निश्चयनय को द्रव्याश्रित एवं व्यवहारनय को पर्यायाश्रित बताकर दोनों प्रकार के मूलनयों में समन्वय का प्रयास किया गया है, तथापि यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि निश्चय-व्यवहार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के पर्यायवाची नहीं हैं।

---

१. आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५६१
२. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८३
३. पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ५२१

नयचक्र की गाथा १८२ में निश्चय-व्यवहार को सर्वनयों का मूल बताने के तत्काल बाद गाथा १८३ में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को मूलनय बताने से ऐसा लगता है कि ग्रंथकार कुछ विशेष बात कहना चाहते हैं। यदि वे निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को पर्यायवाची मानते होते तो फिर उन्हें अगली ही गाथा में मूलनयों के रूप में उनका पृथक् उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

इस संदर्थ में गाथा १८२ की दूसरी पंक्ति महत्वपूर्ण है, उस पर ध्यान दिया जाना चाहिये। उसमें वे द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहते हैं। यहाँ साधन शब्द का अर्थ व्यवहार किया जा रहा है, जो कि अनुचित नहीं है।

गाथा १८२-१८३ पर ध्यान देने पर ऐसा लगता है कि नयचक्रकार निश्चय-व्यवहार को तो मूलनय मानते ही हैं, साथ ही उनके हेतु होने से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को भी मूलनय स्वीकार करते हैं।

यहाँ पर द्रव्यार्थिकनय निश्चय का और पर्यायार्थिकनय व्यवहार का हेतु है—ऐसा कहने के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों ही नय निश्चय -व्यवहार—दोनों नयों के हेतु हैं। जिनागम में समागत अनेक प्रयोगों से हमारी बात सहज सिद्ध होती है, क्योंकि द्रव्यार्थिक के अनेक भेदों को अध्यात्म में व्यवहार कहा जाता है तथा पर्यायार्थिक के अनेक भेदों का कहीं-कहीं निश्चय के रूप में भी कथन मिल जावेगा।

वस्तुतः यह दो प्रकार की कथन-पद्धतियों के भेद हैं, इन्हें एक-दूसरे से मिलाकर देखने की आवश्यकता ही नहीं है। मुख्यतः अध्यात्म-पद्धति में निश्चय-व्यवहार शैली का प्रयोग होता है और आगम-पद्धति में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक शैली का प्रयोग देखा जाता है।

यद्यपि ये दोनों शैलियाँ भिन्न-भिन्न हैं और इनके प्रयोग भी भिन्न-भिन्नरूप में होते हैं; तथापि इनके प्रयोगों के बीच कोई विभाजन रेखा खींचना संभव नहीं है, क्योंकि आगम और अध्यात्म व उनके अभ्यासियों में भी ऐसा कोई विभाजन नहीं है। आगमाभ्यासी अध्यात्मी भी होते हैं, इसीप्रकार अध्यात्मी भी आगमाभ्यास करते ही हैं। तथा ग्रंथों में भी इसप्रकार का कोई पक्का विभाजन नहीं है। आगम ग्रंथों में अध्यात्म की और अध्यात्म ग्रंथों में आगम की चर्चा पायी जाती है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक पर्यायवाची नहीं हैं, तथापि द्रव्यार्थिक निश्चयनय के और पर्यायार्थिक व्यवहारनय के कुछ निकट अवश्य है।

उक्त संपूर्ण चर्चा के उपरांत भी यह प्रश्न तो खड़ा ही है कि दो मूलनय कौन हैं—निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक।

बहुत-कुछ विचार-विमर्श के बाद यही उचित लगता है कि अध्यात्म-शैली के मूलनय निश्चय-व्यवहार हैं और आगम-शैली के मूलनय द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक हैं।

'आलापपद्धति' में लिखा है :—

''पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो-व्यवहारश्च।

फिर भी अध्यात्म-भाषा के द्वारा नयों का कथन करते हैं। मूलनय दो हैं—निश्चय और व्यवहार।''

इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं।

इसप्रकार उक्त दोनों दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर विचार करने पर मूलनय दो-दो नयों के दो युगलों में कुल मिलाकर चार ठहरते है:—

(क) १. निश्चय २. व्यवहार

(ख) १. द्रव्यार्थिक २. पर्यायार्थिक

लगता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहकर ग्रंथकार आगम को अध्यात्म को हेतु कहना चाहते हैं। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आगम के नय हैं और निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं, अतः यहाँ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहने से यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है कि आगम अध्यात्म का हेतु है, कारण है, साधन है।

आत्मा का साक्षात् हित करनेवाला तो अध्यात्म ही है, आगम तो उसका सहकारी कारण है—यही बताना उक्त कथन का उद्देश्य भासित होता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मूलनय निश्चय-व्यवहार ही हैं, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को तो निश्चय-व्यवहार के हेतु होने से मूलनय कहा गया है। [क्रमशः]

अहमिक्को खलु सुद्धो

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्तम ग्रंथराज 'समयसार' की अड़तीसवीं गाथा पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है:—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥३८॥

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित्मात्र भी पद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

छत्तीसवीं और सैंतीसवीं गाथा में रागादि परभाव तथा धर्मादि ज्ञेयपदार्थों से भेदज्ञान का स्वरूप बताकर अब आचार्यदेव दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्मा को स्वरूप-संचेतन कैसा होता है—यह स्पष्ट करते हुए अड़तीसवीं गाथा में इस प्रकरण का समापन करते हैं।

यह आत्मा अनंत ज्ञान-आनंद का घनपिंड होते हुए भी अपने स्वभाव को भूलकर परपदार्थों और परभावों में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान से दु:खी हो रहा है। आत्मा की पर्याय में अनादि से मोहरूप अज्ञान के कारण उन्मत्तता है।

यहाँ दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उन्मत्तता पर्याय में है, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में नहीं है; और यह उन्मत्तता अपने मोहरूप अज्ञान के कारण है, जड़कर्मों के कारण नहीं है।

अनादि की उन्मत्तता से अत्यंत अप्रतिबुद्ध जीव अपने अप्रतिबुद्धस्वभाव को भूलकर अपने को शरीरादिरूप अनुभव करता है। स्त्री-पुत्र-कुटुंबादि मेरे हैं, मैं इनका पालन करता हूँ—इसप्रकार परद्रव्यों के तथा पराश्रित रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से अज्ञानी जीव पागल हो रहा है। इसी पागलपन के कारण धन-संपत्ति, मान-प्रतिष्ठा तथा पंचेन्द्रिय-विषयों में आनंद मान रहा है।

आत्मा एकसमय में अनंत शक्तियों का पिंड है, परंतु अनंत काल से आज तक ऐसे महिमावंत स्वभाव पर इसकी नजर नहीं गई, मात्र वर्तमान प्रगट पर्याय पर ही इसकी नजर है;

परंतु उस पर्याय की ओट में छिपे अनंत शक्तियों के पिंड पर इसकी नजर नहीं गयी—अर्थात् वर्तमान पर्याय और संयोग की महिमा के कारण स्वभाव की महिमा नहीं आयी।

आत्मा का हित करने की भावना से यह जीव अट्ठाईस मूलगुणों का निरतिचार पालन करनेवाला द्रव्यलिंगी मुनि भी हुआ, परंतु प्रगट पर्याय-अंश ही ख्याल में आने से उसी का जोर रहा, उसी की महिमा रही। महाव्रतादिरूप कषाय की मंदता में ही एकत्वबुद्धि रही, इसलिये यह जीव अप्रतिबुद्ध ही रहा। परपदार्थों को अपना मानकर तथा राग में धर्म मानकर पागल ही रहा।

त्रिकाली ज्ञानस्वभाव ही सत् है। उसकी अपेक्षा संयोग, विकार और भेद असत् हैं। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने सत् और असत् में अंतर न जाननेवाले को उन्मत्तवत् कहा है। सत् और असत् का विवेक करके सत् का आश्रय करने से यह उन्मत्तता दूर हो सकती है। ऐसी उन्मत्तता दूर होने का काल आने पर ज्ञानी गुरु का निमित्त भी अवश्य होता है।

गुरु ने स्वयं ज्ञानस्वभाव का आश्रय किया है। वे रंग, राग और भेद से विरक्त होकर निरंतर अतीन्द्रिय आनंद रस का पान करते हैं। कषाय की तीन चौकड़ी के अभावरूप वीतरागचारित्र, अट्ठाईस मूलगुणों के पालन के शुभरागरूप व्यवहारचारित्ररूप तथा नग्न दिगम्बर है दशा जिनकी—ऐसे विरक्तगुरु द्वारा अप्रतिबुद्ध शिष्य निरंतर समझाया जाता है।

गुरु निरंतर समझाते हैं—इसका अर्थ यह नहीं है कि गुरु चौबीस घंटे समझाने के लिये फुरसत में बैठे हैं। गुरु तो ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। कदाचित् राग का उदय हो तो धर्म के लोभी शिष्य को करुणाबुद्धिपूर्वक उपदेश देते हैं। वे सदैव ही उपदेश देने में अपना उपयोग नहीं उलझाते।

समझनेवाले शिष्य को निरंतर समझने की जिज्ञासा है। गुरु द्वारा कहे गये तत्त्व को समझने का अभिलाषी होने से निरंतर उसका ही मनन, चिंतन, घोलन इत्यादि करता है। यद्यपि यह चौबीसों घंटे गुरु के पास नहीं बैठा रहता, तथापि भावों से निरंतर गुरु के समीप ही रहता है। शिष्य इतना तो समझता ही है कि यदि इस भव में वस्तु का स्वरूप समझकर आत्मा का अनुभव न किया तो पुनः अनंत काल संसार में परिभ्रमण करना होगा। इसलिये खाने-पीने, धंधे-व्यापार आदि के लौकिक विकल्प आने पर भी उसे उन कार्यों की मुख्यता नहीं होती; बल्कि निरंतर गुरु के चरणों में बैठकर तत्त्व समझने की जिज्ञासा बनी रहती है। इसलिये गुरु निरंतर समझाते हैं—ऐसा कहा है।

अप्रतिबुद्ध दशा में शिष्य ने कहा था कि शरीर ही आत्मा है—ऐसी मेरी मान्यता है। परंतु गुरु ने समझाया कि भाई! तू देह से भिन्न अनंत ज्ञान, दर्शन, आनंद, सुख, शांति, स्वच्छता, प्रभुता आदि अनंत गुणों का गोदाम है, अनंत शक्तियों का संग्रहालयस्वरूप भगवान आत्मा है।

गुरु के मुख से उक्त प्रकार अपने स्वरूप की महिमा सुनकर शिष्य को स्वरूप की धुन चढ़ गयी, राग और संयोग की महिमा गलने लगी, भेदज्ञानरूप महापुरुषार्थ से अपने को अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदरूप अनुभव किया। जैसा स्वरूप गुरु ने बताया था, वैसा सम्यग्दर्शन में प्रत्यक्ष संवेदन में आया। गुरु ने जैसा स्वरूप कहा था, वैसा शिष्य ने अनुभव में प्रत्यक्ष जान लिया।

जैसे—किसी मनुष्य की मुट्ठी में सोना हो और वह किसी दूसरे मनुष्य से बातचीत में इतना लीन हो जाए कि मुट्ठी में रखे सोने को भूल जाए और सोने को ढूँढ़ने लगे और फिर एकदम याद आ जाए कि अरे! यह तो मेरी ही मुट्ठी में रखा है। स्वर्ण मेरे हाथ में था ऐसी खबर तो थी, परंतु भूल गया था; अब पुनः स्मरण करके देखता है।

इसीप्रकार यह जीव अपने स्वभाव को भूल गया था, परंतु अब इसने विरक्त गुरु के निमित्त से अपने स्वभाव का परिचय करके अनुभव किया था। उदाहरण में तो उस मनुष्य को पहले सोने की खबर थी, परंतु भूल गया था; और सिद्धांत में तो अनादि काल से ही अपने स्वरूप को भूले हुए अज्ञानी को विरक्त गुरु समझाते हैं।

जिसप्रकार मुट्ठी में रखे हुए सोने को वह व्यक्ति भूल गया है, परंतु सोना तो मुट्ठी में ही विद्यमान था, वह कहीं अन्यत्र नहीं चला गया था तथा दूसरे व्यक्ति ने भी उसे सोना दिया नहीं है, मात्र उसे बताया ही है कि यह तो तेरी मुट्ठी में ही है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को भूल गया है, परंतु स्वभाव तो सदा विद्यमान ही है, वह कहीं नष्ट नहीं हो गया, तथा विरक्त गुरु भी उसे उसका स्वभाव दे नहीं देते, वे तो मात्र बताते हैं कि देहादि का संयोग तथा पर्याय में रागादि होने पर भी तेरा ज्ञान-आनंद स्वभाव शक्तिरूप से सदा विद्यमान ही है। राग से दृष्टि हटाकर स्वभाव पर दृष्टि कर तो अभी उसका अनुभव हो सकता है। तेरी वर्तमान पर्याय में पामरता होते हुए भी शक्तिरूप से तू परमेश्वर ही है। परमेश्वर-स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करके पर्याय में भी परमेश्वरपना प्रगट कर।

श्रीगुरु की अनुभवप्रेरक देशना सुनकर पात्र शिष्य राग से दृष्टि हटाकर स्वभाव पर दृष्टि

करता हुआ सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ। जो आत्मा में रमे वह आत्माराम है। राग में रमना छोड़कर आत्मा में रमता हुआ शिष्य अपने को चैतन्यमात्र, ज्योतिरूप, स्वानुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होनेवाला एक, शुद्ध, अरूपी, ज्ञान-दर्शन-स्वभावी अनुभव करता है।

गुरुमुख से सुनकर आत्मा का निर्णय और वैसी ही श्रद्धा करके उसमें लीन होकर आत्माराम होनेवाला शिष्य अपने को स्वानुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होनेवाली चैतन्यमात्र ज्योतिरूप अनुभव करता है। वह अपने अनुभव से ही आनंद के वेदन से ही अपने आत्मा को प्रत्यक्ष जानता है; देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से, शुभराग से या भेद-विकल्पों से नहीं।

पंडित बनारसीदासजी ने भी अनुभव का स्वरूप बताते हुए नाटक समयसार में कहा है:—

वस्तु विचारत ध्यावतें मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे अनुभव याको नाम॥

इस आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में भी आचार्यदेव ने आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है। यहाँ भी चैतन्यमात्र ज्योति कहा है। चैतन्यमात्र कहने से चैतन्य के अलावा सुख, वीर्य आदि अनंत शक्तियों का निषेध नहीं समझना चाहिये। आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्वच्छता आदि अनंत शक्तियों का पिंड है। प्रत्येक शक्ति अनंत सामर्थ्यवान है। प्रत्येक शक्ति में अनंत सामर्थ्यरूप प्रभुता है। एक शक्ति में दूसरी शक्ति का रूप है। आत्मा में प्रभुत्व शक्ति है, जिसका रूप अन्य सभी शक्तियों में है। जैसे—ज्ञानगुण में अस्तित्वगुण का रूप है अर्थात् आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व है; इसीप्रकार प्रभुत्वगुण का रूप अन्य समस्त गुणों में है। प्रभुत्वगुण स्वयं अन्य गुणों में नहीं है, क्योंकि एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, परंतु उसका रूप अन्य गुणों में आता है। स्वयं को चैतन्यज्योतिमात्र अनुभव न करके रागरूप अनुभव करने में चैतन्य जीवन की हिंसा होती है। चैतन्य सत्ता की अस्वीकृति ही उसका हिंसा है। देह और राग में जिसकी अहंबुद्धि है, उसके अभिप्राय में चैतन्य सत्ता का नाश हो गया है। यद्यपि चैतन्यस्वभावी आत्मा का कभी नाश नहीं होता, तथापि अज्ञानी के अभिप्राय में उसका नाश ही हो गया, अत: वह आत्मघाती है। चैतन्य ज्योतिरूप आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और आचरणरूप अनुभव से ही इस महापाप से बचा जा सकता है।

मैं चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यवहारिक

भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिये एक हूँ—ऐसा ज्ञानी अनुभव करते हैं।

नर-नारकादि पर्यायें क्रमरूप भाव हैं, क्योंकि ये पर्यायें एक साथ नहीं होतीं—क्रम से होती हैं। गति, इंद्रिय, काय, योग, लेश्या आदि भाव एकसाथ होते हैं, इसलिए वे अक्रमरूप हैं। मेरी अवस्था में ये क्रमरूप और अक्रमरूप भाव एकसाथ प्रवर्तते हैं, तथा मेरे ज्ञान में ज्ञात होमते हैं; फिर भी चिन्मात्र आकार अर्थात् मात्र चैतन्यस्वभावी होने से मैं भेदरूप नहीं होता, एकरूप ही रहता हूँ।

आत्मा ज्ञानमात्रस्वभावी होने से भेदरूप नहीं होता। वह तो अभेद, अखंड, आनंदकंद है। क्रम-अक्रमरूप भावों का अस्तित्व है ही नहीं, ऐसा नहीं है। वर्तमान दशा में उनका अस्तित्व तो है, परंतु उनके अस्तित्व से आत्मा भेदरूप नहीं होता, वह तो अभेद चैतन्य ज्योतिमात्र ही रहता है। अनादि से अज्ञानी की दृष्टि इन क्रम-अक्रमरूप भावों पर ही थी, अतः अपने को भेदरूप ही अनुभव करता था। इसलिये रागादि की ही उत्पत्ति होती थी, परंतु विरक्त गुरु की देशना के निमित्त से अभेदस्वभाव का अनुभव होने से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है।

अहो! आचार्य अमृतचंद्र ने इस टीका में अमृत बरसाया है। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित वस्तुस्वरूप का रहस्य खोल दिया है। एक ही समय में भगवान आत्मा क्रम-अक्रमरूप भावों में वर्तता हुआ भी भेदरूप परिणमित नहीं होता, अभेदरूप ही रहता है। भेद और अभेद दोनों धर्मों को स्वीकार करके भेद का आलंबन छोड़कर अभेद का आश्रय करना ही जैनधर्म की मौलिक विशेषता है।

दृष्टि पर्याय से हटकर चैतन्यभगवान से भेंट करने गई तो उसे क्रम-अक्रमरूप भावों से भेदरूप नहीं होनेवाले अभेदरूप चैतन्य भगवान के दर्शन हुए।

पंचम काल में चैतन्य भगवान के दर्शन की विधि बताकर आचार्यदेव ने सर्वज्ञ का विरह भुला दिया है। भाई! अनंत शक्तियों के अखंड पिंड भगवान आत्मा को जानकर उसका अनुभव कर। स्वानुभव से प्रत्यक्ष स्वाद ले तो आत्मा को जाना—ऐसा कहा जाए। तू अनादि से शुभराग में और क्षयोपशम ज्ञान में ही संतुष्ट हो रहा है, इसलिये तुझे यह बात कठिन लगती है; परंतु धर्म करने का, सुखी होने का एकमात्र उपाय यही है। इसलिये गृहस्थों को आत्मा का

अनुभव नहीं हो सकता या अभी पंचम काल है, इसलिये शुभभाव करें—इसप्रकार बहाना मत बना। यदि चौरासी के अवतार से बचना चाहता हो तो धैर्यपूर्वक तत्त्व समझकर शुद्ध आत्मा का अनुभव कर।

नर-नारकादि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षस्वरूप व्यवहारिक नवतत्त्वों से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यंत भिन्न हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ।

अनादि काल से यह जीव पुण्य-पाप, आस्रव-बंधरूप परिणमित हो रहा है। आत्मा का भान होने पर संवर-निर्जरारूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है और स्वरूप में स्थिरतारूप चारित्र की पूर्णता होने पर मोक्ष पर्याय प्रगट होती है। परंतु आत्मा संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय जितना नहीं है; ये पर्यायें तो क्षणवर्ती हैं, जबकि आत्मा इनसे भी अधिक त्रिकाली, अखंड, शुद्धरूप है।

नियमसार की ३८वीं गाथा में इन सात तत्त्वों को नाशवान कहा है। आत्मा तो चैतन्य, ज्ञान, आनंद, पुरुषार्थ आदि अनंत गुणों का अखंड पिंड है। टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावरूप होने से उसमें नवतत्त्वों का भेद नहीं है।

नवतत्त्व हैं ही हीं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। एकसमय की पर्याय में उनका अस्तित्व है। त्रिकाली शुद्ध वस्तु में उनका अस्तित्व नहीं है, इसलिये शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा उन्हें अभूतार्थ कहते हैं।

एकसमय की पर्याय में संपूर्ण द्रव्य नहीं आ जाता। इसी ग्रंथ की ४९वीं गाथा में कहा है कि "व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिये अव्यक्त है।" प्रवचनसार के अंत में ४७ नय कहे हैं, उनमें अंतिम शुद्धनय और अशुद्धनय का स्वरूप बताते हुए कहा है कि मिट्टी को मिट्टीरूप देखना शुद्धनय है तथा उसे अनेक प्रकार के बर्तनोंरूप देखना अशुद्धनय है। इसीप्रकार अभेदवस्तुरूप भगवान आत्मा शुद्धनय का विषय है, सम्यग्दर्शन का विषय है, तथा आत्मा को नवतत्त्वों के भेदरूप देखना अशुद्धनय है।

नवतत्त्वों के भेद पर लक्ष्य जाने से राग उत्पन्न होता है, इसलिये ज्ञानी नव तत्त्वों के भेद

से भेदरूप नहीं होनेवाले अभेद ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करते हैं। अज्ञान दशा में नव तत्त्वों के भेद का ही अनुभव होता था, परंतु अभेद का आश्रय लेने पर अभेदरूप अनुभव होता है तथा भेदरूप नव तत्त्वों का सच्चा ज्ञान भी अभेद का आश्रय होने पर ही होता है। अभेद का अनुभव होने पर ज्ञानी नव तत्त्वों के भेद में नहीं अटकते अर्थात् अपने को नव तत्त्वरूप अनुभव नहीं करते, नव तत्त्वों के मात्र ज्ञाता ही रहते हैं।

प्रश्न :- यह तो सातवें गुणस्थान की बात है ?

उत्तर :- नहीं भाई! चतुर्थ गुणस्थान में ही नव तत्त्वों का लक्ष्य छोड़कर अभेदस्वभाव का अनुभव होता है। आत्मा के अनुभव बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। देव-शास्त्र-गुरु और नव तत्त्वों की रागात्मक श्रद्धामात्र से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा की प्रतीतिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ होनेवाली रागात्मक श्रद्धा को व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा जाता है। व्यवहारसम्यक्त्व तो परसम्मुख परिणाम है। निश्चयसम्यग्दर्शन शुद्धात्माभिमुख परिणाम है।

चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता, इसलिये मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ।

यहाँ दर्शन-ज्ञान वाला हूँ—ऐसा न कहकर दर्शन-ज्ञानमय कहा है, अर्थात् दर्शन-ज्ञान आत्मा का स्वभाव ही है। वस्तु को सामान्य अर्थात् भेद किये बिना ग्रहण करना दर्शन है तथा भिन्न-भिन्न ग्रहण करना ज्ञान है। सामान्य विशेषपने का उल्लंघन नहीं करता, अर्थात् उसरूप ही रहता है, इसलिये आत्मा दर्शन-ज्ञानमय है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है—ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्वयं स्पर्शादिरूप परिणमित नहीं हुआ, इसलिये परमार्थ से मैं सदा अरूपी हूँ।

जिसप्रकार दर्पण के सामने उपस्थित पदार्थ जैसा का तैसा प्रतिबिम्बित होता है, परंतु दर्पण उस पदार्थरूप परिणमित नहीं होता; इसीप्रकार मेरे ज्ञान-दर्पण में स्पर्श, रस, गंध, वर्णस्वरूप पुद्गल ज्ञात होते हैं, फिर भी मैं स्वयं स्पर्शादिरूप परिणमित नहीं होता। मैं तो स्पर्शादि संबंधी ज्ञानरूप परिणमित होता हूँ, क्योंकि जानना मेरा स्वभाव है।

मुझे स्पर्शादि का ज्ञान होता है, उसमें स्पर्शादि तो निमित्तमात्र हैं, ज्ञानरूप परिणमित होने की मूलशक्ति तो मुझमें ही है। स्पर्शादि हैं—इसलिए उनके कारण मुझे उनका ज्ञान हुआ,

ऐसा नहीं है। स्पर्शादि को जानने की उस समय की योग्यता से मुझे स्पर्शादि का ज्ञान हुआ है, स्पर्शादि के कारण नहीं।

संसार अवस्था में रूपीकर्मों का संयोग होने से कुछ लोग आत्मा को रूपी भी कहते हैं। परंतु यह तो निमित्त की अपेक्षा उपचरित कथन है, वास्तव में तो आत्मा सदा अरूपी है।

स्पर्श, रस, गंध आदि अवस्थाओं को जानते समय अज्ञानी अपने को स्पर्श, रस, गंध, आदिरूप ही अनुभव करता है। ज्ञेयलोलुपी होने से वह ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके दु:खी होता है, परंतु अज्ञानी के ज्ञान में भी ज्ञेय प्रविष्ट नहीं हो जाते। उसका ज्ञान भी स्पर्शादि रूप परिणमित नहीं हुआ होने से सदा अरूपी रहता है। ऐसे अरूपी ज्ञानस्वभाव का भान न होने से ही यह जीव अज्ञानी रहता है।

इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे अपने स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। मेरी सत्ता प्रतापवंत है। मेरी स्वतंत्रता के प्रताप को कोई खंडित नहीं कर सकता। नव तत्त्वों के भेद से भी मेरा अखंड प्रताप खंडित नहीं होता। मैं अपने प्रताप से ही स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ, निमित्त अथवा विकल्पों से नहीं।

इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुए मुझे यद्यपि बाह्य में अनेक प्रकार की स्वरूप-संपदा द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं, तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप नहीं भासते, कि जो भावकरूप से तथा भेदरूप से मेरे साथ होकर मुझे पुन: मोह उत्पन्न करें; क्योंकि पुन: अंकुरित न हो अर्थात् मोह को मूल से उखाड़कर निजरूप से ही मुझे महान ज्ञानप्रकाश उत्पन्न हुआ है।

मुझसे भिन्न जीव-पुद्गल आदि अनेकों पदार्थ अपनी-अपनी स्वरूप-संपदा द्वारा अपने-अपने में सुशोभित हैं। शरीरादि तथा शुभाशुभ वृत्तियाँ मेरी संपदा नहीं हैं, जड़ की संपदा हैं। जड़ में भी अनेक प्रकार की शक्तियाँ स्फुरायमान हैं। अत: एक भी रजकण तथा रागकण मुझे अपनेरूप भासित नहीं होता। अब मैं परमाणु आदि सभी पदार्थों को तथा अपने स्वरूप को, दोनों को भिन्न-भिन्न जानता हुआ प्रतापवंत वर्तता हूँ।

लोगों को लगता है कि इसमें पुरुषार्थ क्या आया ? परंतु भाई ! एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, ऐसी प्रतीति में अनंत पुरुषार्थ है। शरीर की क्रिया और राग में जीव का पुरुषार्थ नहीं है

नव तत्त्वों के भेद से लक्ष्य हटाकर अभेदस्वरूप का अनुभव करने में अनंत पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ से मोह का समूल नाश हो जाता है। अब पुनः कभी भी भावक-भावों और ज्ञेय-भावों में एकत्वबुद्धिरूप मोह उत्पन्न नहीं होगा।

देखो! आचार्यदेव ने अप्रतिहतभाव का वर्णन किया है। अपने चैतन्यरस से मोह की जड़ें उखाड़ फेंकनेवाला धर्मात्मा भले ही छह खंड का राज्य सम्हालता हो, छ्यानवें हजार रानियों के बीच खड़ा हो, युद्ध कर रहा हो तो भी उसे भावकभावों और ज्ञेयभावों में एकत्वबुद्धिरूप मोह उत्पन्न नहीं होता। अस्थिरता के राग में भी हेयबुद्धि ही रहती है।

प्रवचनसार गाथा ९२ में भी आचार्यदेव ने ऐसा ही अप्रतिहतभाव व्यक्त किया है कि हमारी मोहदृष्टि नाश को प्राप्त हो गयी है। अब वह पुनः उत्पन्न नहीं होगी। यहाँ तो शिष्य भी निःशंक होकर स्वीकार करता है कि मुझे महान ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ है। मुझे सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं—यह जानने के लिये किसी केवलज्ञानी से पूछने नहीं जाना पड़ता। आत्मा स्वानुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

शिष्य ने स्वकाललब्धि और गुरु के उपदेश के निमित्त से वस्तु का स्वरूप समझ लिया। स्वकाललब्धि अर्थात् पुरुषार्थ से अपने निजरस द्वारा प्रगट ज्ञानप्रकाश से अपने को एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, तथा अरूपी अनुभव किया। अब उसे कभी मोह का अंकुर भी उत्पन्न नहीं होगा।

सम्यक् रत्नत्रय

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की ५१ से ५५वीं गाथाओं एवं उनमें समागत श्लोकों पर हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार गति अंक में प्रारंभ करने के पश्चात् शेष इस अंक में दिया जा रहा है।

अब, निश्चयमोक्षमार्ग का कथन करते हैं:—

''अभेद-अनुपचार-रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है—ऐसे निजपरमतत्त्व की श्रद्धा से तत्ज्ञानमात्र (उस निज परमतत्त्व के ज्ञानमात्र स्वरूप) अविचलपने स्थित होनेरूप सहजचारित्र से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।''

निजशुद्धपरमात्मतत्त्व की श्रद्धा वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।

जीव का अपना एकरूप ज्ञायकमूर्ति टंकोत्कीर्ण स्वभाव है। जो भेदरहित, विविधता रहित, सामान्य ध्रुव अभेद स्वभाव है—वह उपचाररहित है। जिसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणति प्राप्त जो जीव है, वह जीव अपूर्व सिद्धदशा को प्राप्त करता है। वह किस साधन से प्राप्तव्य है—वह बतलाते हैं। अपने एकरूप निजपरमात्मतत्त्व की श्रद्धा से वह प्राप्त होने योग्य है। व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताया था, किंतु उसको मोक्ष का कारण नहीं कहा था। अखंड आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का कारण है। आत्मा की पर्याय में विकार का परिणाम होना आत्मा का स्वरूप नहीं है। मोक्षमार्ग और मोक्ष भी पर्याय है—भेद है, उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। विकार और भेदरहित टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका स्वभाव है—ऐसे निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा से मुक्ति होती है। पंचपरमेष्ठी की व्यवहारश्रद्धा के राग से मुक्ति नहीं होती, हेय-उपादेय तत्त्वों के व्यवहार ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, पंच महाव्रत के राग से मुक्ति नहीं होती। वाणी तथा ज्ञानी पुरुषों के निमित्त से भी मुक्ति नहीं होती। श्रद्धा का राग इत्यादि बंध का कारण है, मोक्षदशा का कारण तो निजपरमात्मतत्त्व की श्रद्धा ही है। दया-दानादिभाव पुण्य तत्त्व है; हिंसा, असत्यादि पापतत्त्व है; क्षयोपशम-उघाड़ भी एकसमय की

पर्याय है—वह परमतत्त्व नहीं है; किंतु निजपरमात्मा-कारणपरमात्मा एक ही परमतत्त्व है, उसी की श्रद्धा से मुक्ति होती है, इसलिये उसको अभेद निश्चयसम्यग्दर्शनरत्न कहा है।

निजपरमतत्त्व का ज्ञानमात्रस्वरूप वह सम्यग्ज्ञान है।

अब, सम्यग्ज्ञान की चर्चा करते हैं। अपने निजपरमात्मतत्त्व के ज्ञानमात्र स्वरूप ऐसे अंतर्मुख परमबोध से मुक्ति प्राप्त होती है। शास्त्र का रागसहितज्ञान तो परलक्ष्यी ज्ञान है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। शास्त्र तो पर है, शास्त्र में से ज्ञान नहीं आता। आत्मा ज्ञायक है, उसके अवलंबन से बोध प्रकट होता है—वही सम्यग्ज्ञान है। जिसप्रकार कोई पुरुष माल खरीदने जाए तो क्या माल लेना है, वह किसप्रकार मिलेगा, उसका निर्णय करता है; उसीप्रकार मुक्तिरूपी माल की अभिलाषा हो तो उसको तीन रत्न प्राप्त करना चाहिये। वह रत्न कहाँ से मिले? देह-मन-वाणी से नहीं, विकार से नहीं, एक समय की क्षायोपशमिक पर्याय से भी नहीं, किंतु ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान से सम्यग्ज्ञान होता है और उसी से मोक्षदशा प्राप्त होती है, अन्योपाय से नहीं।

अपने परमतत्त्व में अविचलरूप से स्थिति वह सम्यक्चारित्र है।

अब, सम्यक्चारित्र का कथन करते हैं। पंच महाव्रत के विकल्परहित और एक समय के उघाड़ के अभाववाले संपूर्णज्ञायक ध्रुवस्वभाव में अविचलपने स्थिति वह चारित्र है और वह मुक्ति का कारण है। पंचमहाव्रत के परिणाम से चारित्र नहीं होता, किंतु शुद्ध द्रव्य के आश्रय से चारित्रदशा—वीतरागी परिणाम होता है। इसप्रकार जो अभेदरत्नत्रयपरिणतिवाले जीव हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित जीव हैं, वे ही अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से पूर्व में अप्राप्त—ऐसे अपूर्व सुख और आनंददशा-मुक्तदशा को पाते हैं।

सिद्धदशा द्रव्य या गुण नहीं है, किंतु पर्याय है, वह नई प्रकट होती है। संसार भी पर्याय है। पुण्य-पाप का आश्रय वह मिथ्यात्व, राग और संसार है, वह एक समय का है, दो समय का संसार इकट्ठा नहीं होता। उसी तरह संसार का नाश करना नहीं पड़ता, किंतु निज परमतत्त्व का अवलंबन लेने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट होकर पूर्ण सिद्धदशा प्राप्त होती है और संसार का नाश हो जाता है।

यहाँ प्रथम व्यवहाररत्नत्रय बताया, इसलिये उससे निश्चयरत्नत्रय होता है—ऐसा है

नहीं, व्यवहार से निश्चय होता नहीं; अपने स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट होता है, तब व्यवहार कैसा होता है, उसका ज्ञान कराया है।

भावलिंगी मुनि को विकल्पवाली दशा के समय अट्ठाईस मूलगुण का पालन होता है और उनको व्यवहारनय होता है।

''जो परम जिनयोगीश्वर प्रथम पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं, उनको वास्तव में व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है।''

अपने आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, विकार से रहित है, ऐसे शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान सहित एकाग्रता करनेवाले को योगी कहते हैं। यथार्थ स्वरूप के भान बिना योग की साधना करने पर भी योगी नहीं है। अनंत आत्मा, अनंत पुद्गलादि द्रव्य हैं; प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण, अनंत पर्यायें हैं। पर्याय में विकार है, किंतु स्वरूप में नहीं, ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये। इसप्रकार निजात्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करे वह योगी है। पुनश्च, लीनता में जो उत्कृष्ट है, उसे परमयोगी जिनेश्वर कहते हैं। ऐसे जिनयोगीश्वर जब स्वरूप में लीन नहीं होते तब छठे गुणस्थान में प्रमत्तदशा में अशुभभाव से निवृत्तिरूप पंचमहाव्रतादि का पालन होता है, उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं। स्वरूप में अंतर्लीनता न होने पर शुभराग उत्पन्न होता है, अट्ठाईस मूलगुण का पालन होता है, बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा होती है, उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं; और जिसको वास्तव में व्यवहारनय से व्यवहारचारित्र है, उसको व्यवहारनय कहते हैं।

परमशुद्ध आत्मस्वभाव में प्रतपन वह निश्चयतप है।

''सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन वह तप है; निजस्वरूप में अविचलस्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र इस तप से होता है।''

अब, निश्चयतप की व्याख्या करते हैं। आत्मा आनंदकंद है। ऐसे परमस्वभावरूप आत्मा में लीन होना, शोभायमान होना, वीतरागीदशा की उज्ज्वलता होना, वह निश्चयतप है। आजकल तो अज्ञानी जीव बाहर की क्रिया में, भोजन न करने में तप मान बैठे हैं। आहार नहीं लिया इसलिये तप हो गया, ऐसे माननेवाले जीव रोटी इत्यादि जड़पदार्थों के ग्रहण-त्याग के स्वामी होते हैं—वे मिथ्यादृष्टि हैं। आहार न मिलने से जीव को लाभ हो तो आहारपर्याय आत्मा के परिणाम की स्वामी हो जाये, अतः आहार होने से अशुभभाव नहीं होता और आहार न देने

से शुभभाव नहीं होता। अशुभभाव-शुभभाव जीव स्वतन्त्रतया करता है, जड़ की क्रिया के साथ उसका संबंध नहीं है तथा शुभभाव हुआ वह भी तप नहीं है। यदि पर के कारण तप होता हो तो परद्रव्य आत्मा का स्वामी हो जाये, आत्मा स्वतंत्र रहे नहीं। परपदार्थ से रहित, विकारभाव से रहित एकरूप शुद्ध परमात्मास्वरूप अपना आत्मा है, ऐसे आत्मा में लीन होना—एकाग्र होना, उसको भगवान तपश्चर्या कहते हैं और उस तपश्चर्या से निर्जरा होती है। शेष सभी तपों को अज्ञानतप और अज्ञानव्रत कहते हैं।

निश्चयतप से अपने में अविचल स्थितिरूप सहजचारित्र होता है और सिद्धदशा प्राप्त होती है।

ऐसी लीनतारूप प्रतपन से अथवा निश्चयतप से निश्चयचारित्र प्रकट होता है। ऐसे निश्चयतप से अपने स्वभाव में अविचलपने स्थिति होती है, उसको निश्चयचारित्र कहते हैं। शरीर की नग्नदशा से अथवा पंचमहाव्रत के परिणाम से निश्चयचारित्र प्रकट नहीं होता, किंतु ज्ञानस्वभाव में लीनतारूपी तप से चारित्र प्रकट होता है। प्रथम व्यवहार की बात की वह जानने के लिये है परंतु आदरणीय नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वभाव एक ही आदरणीय है। आत्मा के अंदर उदयभाव, क्षयोपशमभाव, उपशमभाव है वह एकसमय की पर्याय है, पर्याय में से पर्याय आती नहीं। पूर्व पर्याय तो व्ययरूप है, परंतु शुद्धचैतन्यस्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, उसके अवलंबन से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप की पर्याय प्रकट होती है, इसलिये अंशबुद्धि, पर्यायबुद्धि छोड़कर त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि करना ही धर्म का कारण है। इसप्रकार जो जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करके लीनता करता है, उसको अभूतपूर्व सिद्धदशा प्रकट होती है। उस सिद्धदशा का कारण निजकारणपरमात्मा है।

ऊपर ५१-५५ गाथा में रत्नत्रय का स्वरूप वर्णन किया।

इसीप्रकार एकत्वसप्तति अधिकार के १४वें श्लोक में कहा है (यह पद्मनंदि पंचविंशतिका नामक शास्त्र का एक अधिकार है)।

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥

"आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्मा का बोध वह ज्ञान है, आत्मा में ही स्थिति वह चारित्र है। ऐसा योग (इन तीनों की एकता) शिवपद का कारण है।"

शुद्ध अखंड ध्रुव आत्मा है और ऐसे द्रव्यस्वभाव की निर्विकल्प अंतरंग प्रतीति वह सम्यग्दर्शन है। एकसमय का विकार अथवा पर्याय जितना आत्मा नहीं है; शरीर-मन-वाणी या पंच महाव्रतादि के शुभपरिणाम वह आत्मा नहीं है, क्योंकि पर्याय जितना ही संपूर्ण आत्मा नहीं है। निश्चयनय के विषयभूत आत्मा की यहाँ चर्चा है और उसी के भावसहित व्यवहार का सच्चा ज्ञान होता है।

आत्मा शुद्धकारणपरमात्मा भगवान है। वह स्वयं विकार को करता भी नहीं और टालता भी नहीं—ऐसा आत्मा ही सम्यग्दर्शन में आदरणीय है, क्षणिक पर्याय सम्यग्दर्शन में आदर करनेयोग्य नहीं। ध्रुवसामान्य ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि वह सम्यग्दर्शन है।

आत्मा का अंतर्मुख सम्यग्ज्ञान हो वही ज्ञान है, शास्त्र का ज्ञान तो व्यवहार है। अंतर में शुद्ध आत्मा के ज्ञान बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

शुद्ध आत्मा में निश्चयपने लीनता होना वह सम्यक्चारित्र है, बीच में विकल्प आवे वह व्यवहार है। निश्चय से तो शुद्ध ध्रुव आत्मा में लीनता वही चारित्र है—ऐसा निश्चयचारित्र हो वहाँ विकल्प को व्यवहारचारित्र कहा जाता है।

इसप्रकार शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और लीनता इन तीनों का योग वह शिवपद का कारण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकता वह मोक्ष का कारण है और उसका मूल तो त्रिकाली कारणपरमात्मा है, उसी के आश्रय से रत्नत्रय प्रकट होता है।

टीकाकार स्वयं पद्मप्रभ मुनिराज हैं और टीका में पद्मनंदि आचार्य के श्लोक का आधार दिया है। आत्मा का स्वभाव त्रिकालध्रुव एकरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता ही मोक्ष का मार्ग है—अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।

इस शुद्धभाव अधिकार की अंतिम पाँच गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :—

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अधकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्त्तिः,
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च॥७५॥

सहजज्ञान सदा जयवंत है, वैसी (-सहज) यह दृष्टि सदा जयवंत है, वैसा ही

(-सहज) विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवंत है; पाप समूहरूपी मल की अथवा कीचड़ की पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है—ऐसी सहज परमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है।

सहजज्ञान सदा जयवंत है। कैसा सहजज्ञान? आत्मा का ध्रुव त्रिकाल एकरूप सहजज्ञान है, वह त्रिकाल जयवंत है। निजकारण परमात्मा का सहजज्ञान त्रिकाल जयवंत है। ऐसे त्रिकाल ज्ञान का ज्ञान करना वह सम्यग्ज्ञान है।

पुनश्च, ज्ञान की तरह त्रिकाली सहजदृष्टि भी सदा जयवंत वर्तती है, आत्मा में सम्यग्दर्शन पर्याय तो नई प्रकट होती है, परंतु यह सहजदृष्टि त्रिकाल जयवंत वर्तती है, उसकी दृष्टि करना वह सम्यग्दर्शन है।

उसीप्रकार सहजविशुद्धचारित्र भी वस्तुस्वरूप में सदा जयवंत वर्तता है। मोक्ष का कारण जो नवीन प्रकट होनेवाला सम्यक्चारित्र है, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो आत्मा के स्वरूप में अनादि-अनंत सहजचारित्र जयवंत वर्तता है, उसकी दृष्टि-ज्ञान और रमणता करना वह मोक्ष का कारण है।

ऐसा निश्चयरत्नत्रय होने पर बीच में उठनेवाले विकल्प को व्यवहारचारित्र कहते हैं।

पापसमूहरूपी मल की अथवा कादव की पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है, ऐसे सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत वर्तती है।

पुण्य और पाप दोनों संसार के कारण हैं। अतः वे दोनों ही पाप हैं, आत्मा त्रिकाल उनसे रहित सहज परमतत्त्व है। चैतन्यस्वरूप से विरुद्ध होनेवाली समस्त वृत्ति पाप है, कीचड़ है, वह चैतन्य के निर्मल स्वरूप में नहीं है। ऐसे त्रिकाली सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है। आत्मा त्रिकाल चैतन्यमूर्ति विकार के अभावस्वरूप है। विकार टालना और मुक्ति होना वह मूल त्रिकालीस्वरूप नहीं है, वह तो नई दशा है; त्रिकालीस्वरूप तो अनादि-अनंत एकरूप है। विकार करना और टालना—ऐसे दो प्रकार भी उसमें नहीं हैं। ऐसे एकरूप चिदानंदतत्त्व की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

लोगों को ऐसे अंतर्तत्त्व की बात सुनना भी दुर्लभ है। प्रथम तो अध्यात्मग्रंथों की श्रवणोपलब्धि ही अतिदुर्लभ है, श्रवण मिलने पर उसका यथार्थ ज्ञान होना तो और भी दुर्लभ है। ज्ञानी धर्मात्मा मिले, उसके समागम से अध्यात्मग्रंथ क्या कहते हैं, उसका समुचित ज्ञान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्योपाय से सच्चा ज्ञान नहीं होता।

भगवान कारणपरमात्मा वही मुख्य वस्तु है। मोक्ष प्रकट हो वह भी मुख्य वस्तु नहीं है। रागरूप कर्मचेतना अथवा हर्ष-शोक को भोगनेरूप कर्मफलचेतना वह आत्मा का स्वरूप नहीं है और निर्मल ज्ञान प्रकट हो वह भी आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है, आत्मा तो त्रिकाल सहजचेतनामय है। चैतन्य परमतत्त्व में संस्थित सहजचेतना त्रिकाल जयवंत वर्तती है। समय-समय स्वरूप के आनंद का ध्रुव अनुभव करनेवाली सहजचेतना त्रिकाल जयवंत वर्तती है। ऐसा आत्मा ही परमतत्त्व है, संवर-निर्जरा-मोक्ष भी परमतत्त्व नहीं हैं।

त्रिकाल एकरूप जैसे का तैसा भगवान विराजता है, वही आदरणीय है। संसार और मोक्ष दोनों व्यवहारनय के विषय हैं, वे एक समय जितने हैं अवश्य, परंतु आदरणीय नहीं हैं। त्रिकाल आनंदकंद सहजानंद ध्रुव परमतत्त्व में हर्ष-शोक का भोग नहीं है, किंतु सहजचेतना त्रिकाल जयवंत वर्तती है।

ऐसे तत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप निश्चयरत्नत्रय वह मोक्षमार्ग है, ऐसी मुनिदशा प्रकट होने के पश्चात् वहाँ विकल्प उठने पर व्यवहारचारित्र कैसा होता है, वह अग्रिम अधिकार में वर्णन किया जायेगा।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इंद्रियों के फैलाव रहित देहमात्र जिनको परिग्रह था—ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धभाव अधिकार समाप्त हुआ।

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

पाँचों ही द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसप्रकार प्रदेशपने कोई भेद नहीं है। जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य असंख्य प्रदेशी हैं। आकाशद्रव्य अनंत प्रदेशी और पुद्गलस्कंध दो प्रदेशी से लेकर अनंत प्रदेशी हैं।

इसप्रकार प्रदेशसंख्या में भेद होते हुये भी प्रदेश के अस्तित्त्व अथवा कायपने की अपेक्षा सभी द्रव्यों में समानता है। दो परमाणुओं का स्कंध, अनंत प्रदेशी महास्कंध, असंख्य प्रदेशी धर्म, अधर्म तथा जीवद्रव्य सप्रदेशी हैं। 'सप्रदेशपना' सभी में समान है।

सिद्ध के गुण, पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये पाँच बोल सिद्धजीव के हैं। इनमें से एक को भी कम करने पर आत्मा की सिद्धि नहीं होती है और आत्मा की सिद्धि नहीं होने पर सिद्धपर्याय की भी सिद्धि नहीं होगी।

जैसे सिद्धत्वरूप शुद्धव्यंजनपर्याय और केवलज्ञानादि गुण सिद्धजीव के सिद्ध होते हैं; वैसे ही परमात्मदशा का उत्पाद, मोक्षमार्गरूप पर्याय का व्यय और ध्रुवपना भी उनके सिद्ध है। इसप्रकार गुण-पर्याय आदि मुक्त आत्मा की सत्ता को तथा मुक्त आत्मा गुण-पर्याय ी सत्ता को परस्पर सिद्ध करते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य मरकर अनंत में मिल जाता है, आत्मा और शरीर के पृथक् हो जाने पर शरीर पड़ा रहता है और आत्मा पंचभूत में मिल जाता है। परंतु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा चेतन है और पंचमहाभूत जड़ हैं। जड़ और चेतन कभी भी एक-दूसरे से नहीं मिलते। आत्मा जड़ पदार्थों में तो मिलता ही नहीं, अन्य आत्माओं में भी नहीं मिलता।

सभी द्रव्य स्वतंत्र अस्तित्ववाले हैं, वे एक-दूसरे में कभी भी नहीं मिलते हैं। यहाँ कहते हैं कि मरने के बाद आत्मा आत्मारूप से ही रहता है। उसका अस्तित्व सदैव रहता है, कभी भी नाश नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु अविनश्वर होकर परिणमनशील है। यदि केवल वस्तु ध्रुवरूप हो, उत्पादरूप नहीं हो तो उत्पादरहित वस्तु में कार्य (पर्याय) कैसे उत्पन्न होगा? इसलिये वस्तु में ध्रुवपने के साथ उत्पाद-व्यय होता ही है। जिस समय जो पर्याय हो वह सत् है। ''ज्ञान की अपूर्ण पर्याय—अल्पज्ञदशा असत् है और पूर्ण विकसित पर्याय—सर्वज्ञदशा सत् है।'' ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

निगोद में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। भले निगोदिया जीव को इसकी खबर न हो परंतु वहाँ भी नयी अल्पज्ञपर्याय का उत्पाद, पूर्व अल्पज्ञपर्याय का व्यय और जीव का ध्रुवपना —तीनों ही होते हैं। निगोदिया जीवों के अक्षर के अनंतवें भाग ज्ञान का उघाड़ (क्षयोपशम) है। सबसे कम जाननेवाली ज्ञान की यह पर्याय भी सत् है।

द्रव्यसत्, गुणसत्, पर्यायसत्—इत्यादि सभी सत् हैं। ऐसा विचार करने पर वीतरागता आती है और स्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान प्रगट होता है, जीव संसार के दुःखों से छूटकर भगवान बन जाता है।

कसाई कर्म करनेवाले की पापरूप पर्याय और धार्मिक कर्म करनेवाले की धर्मरूप पर्याय दोनों ही—पर्यायपने सत् हैं। एक पर्याय से विकार अवस्था की प्राप्ति कैसे? और एक से मुक्त अवस्था की प्राप्ति कैसे?—इत्यादि प्रश्न पर्यायसामान्य की अपेक्षा विचार करने पर नहीं रहते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थानवाला कर्म के उदय के कारण पहले गुणस्थान में आ जाता है, कोई अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है, कोई मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वी और कोई सम्यक्त्व की विराधना कर मिथ्यात्वी हो जाता है।

प्रत्येक पर्याय सत् है। विकार भी सत् है, सम्यग्दर्शन भी सत् है। स्वरूपभेद होने पर भी अस्तिपने की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अथवा प्रत्येक पर्याय किसी अन्य के कारण नहीं, अपितु स्वयं के कारण है; अपने आप में स्वतंत्र है, पूर्ण है—ऐसा समझ में आवे तो पराधीन दृष्टि छूटे और वीतराग दृष्टि उत्पन्न हो।

अब काय का निरूपण करते हैं:—

शरीर अनंत परमाणुओं का पिंड होने से काय कहा जाता है। तथा जो बहुत प्रदेशों में व्याप्त रहता है, उसे कार्य कहते हैं।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, सुख-वीर्यादि गुणों के आधारभूत लोकाकाश प्रमाण

असंख्यात शुद्धप्रदेश हैं—इस अपेक्षा सिद्धजीव के कायपने का व्यवहार आता है। अर्थात् सिद्धजीव भी असंख्यप्रदेशी हैं—यह कहा जाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सिद्ध असंख्यप्रदेशी तो व्यवहार के हैं—इसलिये उनके प्रदेश होते ही नहीं हैं—ऐसा मानना चाहिये।

नहीं, यह बात ठीक नहीं है। यथार्थतया सिद्ध जीव के असंख्यातप्रदेश निश्चय से हैं, तथा असंख्यप्रदेशी होकर भी आत्मा अभेद-एकरूप है। उसे असंख्यातप्रदेशवाला कहना व्यवहार है। सिद्ध भगवान असंख्यातप्रदेशी हैं ही नहीं—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

जिसप्रकार सिद्धभगवान के केवलज्ञानादि शुद्धगुण और शुद्धव्यंजनपर्याय सत् हैं, तथा परमात्मदशा का उत्पाद, मोक्षमार्गदशा का व्यय और स्वयं ध्रुवरूप, यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सत् भी उनके हैं; यहाँ सत् की अपेक्षा समानता बताई गई है; उसीप्रकार समस्त संसारी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों में यथासंभव परस्पर अभेदता-अस्तित्व की अपेक्षा समानता समझना।

एक जीव स्वभाव का विरोध करके निगोद में जाता है और एकजीव स्वभाव के प्रति विद्यमान अनादिकालीन विरोध मिटाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अल्पकाल में सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

अभव्य जीव और सिद्ध जीव सभी सत्रूप हैं। पुद्गल परमाणु अभी सफेद हैं, कालांतर में काला हो गया। यहाँ परमाणु तो सत् है ही, सफेदपना और कालापना भी सत् है।

जिसप्रकार शुद्ध गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ मुक्तात्मा को सत्तारूप से निश्चयनय से अभेदपना कहा; उसीप्रकार अन्य सभी द्रव्यों के भी जानना।

सभी द्रव्य सत् हैं। 'है' अर्थात् अस्तित्व में सभी आ जाते हैं। संसारी हैं और सिद्ध नहीं; परमाणु हैं और स्कंध नहीं, यह बात नहीं बन सकती है; सभी हैं। 'है' का पेट बहुत बड़ा है। इसमें सभी कुछ समा जाता है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी सत् हैं। तथा इनमें से कालद्रव्य को छोड़कर शेष सभी द्रव्यों के कायपना भी जानना।

अस्ति और काय दोनों मिलाने से कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।

[क्रमशः]

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– जिनबिंब-दर्शन से निद्धत्ति और निकांचित कर्म का भी नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होता है—ऐसा श्री धवलग्रंथ में वर्णन आता है। तो क्या परद्रव्य के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ?

उत्तर– श्री धवलग्रंथ में जो ऐसा पाठ आता है, उसका अभिप्राय यह है कि जिनबिंबस्वरूप निज अंतरात्मा अक्रिय चैतन्यबिंब है, उसके ऊपर लक्ष्य और दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और निद्धत्ति व निकांचित कर्म टलते हैं, तब जिनबिंब-दर्शन से सम्यग्दर्शन हुआ और कर्म टला—ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। चूँकि पहले जिनबिंब के ऊपर लक्ष्य था, इसलिये उसके ऊपर उपचार का आरोप किया जाता है। सम्यग्दर्शन तो स्व के लक्ष्य से ही होता है, पर के लक्ष्य से तो तीन काल में हो सकता नहीं—ऐसी वस्तुस्थिति है और वही स्वीकार्य है।

प्रश्न– समयसार की प्रथम गाथा में कहा कि अनंत सिद्धों को तेरी पर्याय में स्थापन करता हूँ। यहाँ प्रश्न होता है कि अनंत सिद्ध तो हमारे लिये परद्रव्य हैं, हमारी पर्याय में अतद्भावरूप हैं—ऐसी स्थिति में उनका स्थापना किसप्रकार हो सकता है ?

उत्तर– अनंत सिद्ध पर्याय में भले अतद्भावरूप हों, परंतु उन अनंत सिद्धों की प्रतीति पर्याय में आ जाती है, इसलिये अनंत सिद्धों का स्थापना करना कहा है। जिस तरह अध्यवसान का त्याग कराने के लिये बाह्यवस्तु का त्याग कराया जाता है; उसी तरह अपने सिद्धस्वभाव का पर्याय में स्थापन कराने के लिये अनन्त सिद्धों का स्थापन कराने में आया है। जैसे बाह्यवस्तु अध्यवसान का निमित्त है, वैसे ही अपने सिद्धस्वरूप का लक्ष्य कराने में अनंत सिद्ध निमित्त हैं।

प्रश्न– उपयोग किसका लक्षण है ? उसको किसका अवलंबन है—किसके अवलंबन से

प्रकट होता है ? उस उपयोग की अस्ति किसके कारण है और किसके कारण से नहीं है ?

उत्तर– उपयोग आत्मा का लक्षण है, उसको ज्ञेय पदार्थों का अवलंबन नहीं है। आत्मा के अवलंबन से उपयोग प्रकट होता है, बाह्य पदार्थों के अवलंबन से नहीं। आत्मा को तो परपदार्थों का अवलंबन है ही नहीं; अरे! उसके उपयोग को भी बाह्य पदार्थों का अवलंबन नहीं है। उपयोगलक्षण को तो लक्ष्य ऐसे आत्मा का अवलंबन है। परपदार्थों के अवलंबन से अर्थात् देव-गुरु-जिनवाणी के अवलंबन से आत्मा का उपयोग प्रकट नहीं होता, किंतु स्व के आलंबन से ही उपयोग प्रकट होता है। उपयोग की अस्ति ज्ञेय पदार्थों के कारण नहीं है, परंतु वह उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे आत्मा से अस्तिरूप है। उस उपयोग को पर का आलंबन कैसे हो ? अधिक वाँचन, अधिक श्रवण करे तो शुद्धि की वृद्धि हो—ऐसा नहीं है। शुद्धि की वृद्धि तो नियम से आत्मावलंबन से ही होगी।

प्रश्न– आप कहते हो कि शरीर तेरा नहीं और राग भी तेरा नहीं, परंतु हमें तो रात-दिन काम इन दो से ही पड़ता है। अब क्या करें ?

उत्तर– शरीर तो अपने कारण से षट्कारकरूप स्वतंत्र परिणमन करता है और उसीप्रकार राग भी अपने कारण ही षट्कारक से परिणमन करता है। तू तो इन दोनों का मात्र ज्ञायक है। एकसमय में पर्याय षट्कारक से स्वतंत्र परिणमती है—द्रव्य के कारण नहीं, तथा पूर्व पर्याय के कारण उत्तर पर्याय परिणमती हो—ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय प्रति समय षट्कारक से स्वतंत्रपने ही परिणमती है—यह वस्तु की स्थिति है। भाई! तेरा तत्त्व तो परिपूर्ण ज्ञायकभाव से भरपूर है, वह जानने के अतिरिक्त और क्या करे ?

प्रश्न– कषाय को मंद करे तो अंतर्मुख होता है न ?

उत्तर– नहीं। संसार को कृष करे तो संसारातीत होवे। विष को हलका करे-पतला करे तो अमृत होगा क्या ? पुण्य और पाप दोनों ही बंध के कारण हैं, विषरूप हैं, अमृत से विरुद्ध भावरूप हैं। उन दोनों में से किसी एक को ठीक और दूसरे को अठीक मानना, शुभ और अशुभ में भेद मानना, शुभ-अशुभ में कुछ अंतर है—ऐसा मानना, यह सब घोर संसार में भटकने के कारण हैं—ऐसा कुंदकुंद भगवान कहते हैं। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, उसके सन्मुख होने का साधन वह स्वयं ही है, कषाय की मंदता

किंचित्मात्र भी साधन नहीं है। कषाय की मंदतापूर्वक शुक्ललेश्या के भाव करके द्रव्यलिंगी नवम् ग्रैवेयक तक गया तथापि मिथ्यात्व छूटा नहीं।

प्रश्न– आत्मा और बंध को भिन्न करने का साधन क्या ?

उत्तर– आत्मा और बंध को भिन्न करने में भगवतीप्रज्ञा ही एक साधन है। राग से भिन्न स्वभाव-सन्मुख झुकाव कराना, एकाग्रता करना, ढलना; यही एक साधन है। राग से भिन्न पड़ने में ज्ञानातिरिक्त अन्य कोई साधन है ही नहीं।

प्रश्न– भगवान आत्मा विकार का कारक है या अकारक ? विकार परद्रव्य से होता है क्या ? यदि नहीं, तो परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश क्यों दिया जाता है ? पर्याय का निर्विकारी होना द्रव्य के आधीन है क्या ? कृपया सबका समाधान कीजिए।

उत्तर– भगवान आत्मा निर्विकार अतीन्द्रिय आनंद का पिंड है, वह विकार का कारण है ही नहीं। परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य करने से विकार होता है अवश्य, फिर भी परद्रव्य से विकार नहीं होता। परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से पर्याय स्वतंत्रतया अपने से विकाररूप परिणमन करती है। स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनंदस्वरूप है, उससे पर्याय निर्विकार नहीं होती; किंतु स्वद्रव्य का लक्ष्य करने पर पर्याय स्वयं अपने से स्वतंत्रतया निर्विकार होती है। इसके विपरीत परद्रव्य का लक्ष्य करने से पर्याय स्वत: विकारी होती है। अत: आत्मा अकेला स्वभाव से राग का अकारक ही है। यदि आत्मा राग का अकारक न हो तो परद्रव्य से हटने का—परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ने का उपदेश निरर्थक ठहरे; इसलिये परद्रव्य के लक्ष्य से ही विकार होता होने से परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश है। विकार होने में परद्रव्य निमित्त है। वह निमित्त-नैमित्तिक संबंध ऐसा सूचित करता है कि आत्मा अकेला स्वभाव से विकार का अकारक ही है।

प्रश्न– ग्यारह अंग और नव पूर्व का ज्ञानी पंच महाव्रत का पालन करे, तथापि आत्मज्ञान करने में अब उसे और क्या शेष रह गया है ?

उत्तर– ग्यारह अंग का ज्ञान तथा पंच महाव्रत का पालन करने पर भी उसे भगवान आत्मा का अखंडज्ञान करना शेष रह गया है। खंड-खंड इंद्रियज्ञान—ग्यारह अंग का किया था, वह खंड-खंड ज्ञान परवश होने से दु:ख का कारण था। अखंड आत्मा का ज्ञान किये बिना वह ग्यारह अंग का ज्ञान नाश को प्राप्त होने पर कालक्रम से वह जीव निगोद में

भी चला जाता है। अखंड आत्मा का ज्ञान करना ही मूलवस्तु है। इसके बिना भवभ्रमण का अंत नहीं।

प्रश्न– निश्चय के साथ होनेवाले उचित राग को क्रोध कहते हैं क्या ?

उत्तर– नहीं, यहाँ समयसार गाथा ६९-७०-७१ में, जिसको आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है-अनादर है, उसके रागभाव को क्रोध कहा है अर्थात् मिथ्यात्व सहित होनेवाले रागादिभाव को क्रोध कहा है। ज्ञानी में होनेवाले अस्थिरता के राग का तो ज्ञानी को ज्ञान होता है। ज्ञानरूप परिणमनेवाले ज्ञानी को आनंदरूप आत्मा रुचता है—अनुभव में आता है, इसलिये उसे राग की रुचिरूप क्रोध होता ही नहीं, अतः क्रोध मालूम नहीं पड़ता। अज्ञानी को दुःखरूपभाव-रागभाव रुचता है और आनंदरूप भाव रुचता नहीं, इसलिये उसको क्रोधादि का ही अनुभव होता है, आत्मा मालूम नहीं पड़ता। आत्मा अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, उसकी तो रुचि नहीं और पुण्य-परिणाम की रुचि है, यह आत्मा का अनादर है, अतः ऐसे अज्ञानी को अपने स्वरूप के प्रति क्रोध है-ऐसा समझना।

प्रश्न– आत्मा परोक्ष है तो जानने में कैसे आवे ?

उत्तर– आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अंतर्मुख हो तो प्रत्यक्ष जानने में आता है। बहिर्मुख पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता-नहीं दिखता, परंतु है, वह प्रत्यक्ष ही, क्योंकि उसके सन्मुख ढलकर-झुककर देखे तो अवश्य जानने में आता है।

प्रश्न– मनुष्य के शरीर में कितने रोग होना शास्त्र में कहा है ?

उत्तर– भावपाहुड़ गाथा ३७ में कहा कि इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल स्थान में छियानवे-छियानवे रोग होते हैं (इस हिसाब से समस्त शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग रहते हैं-५,६८,९९,५८४)।

प्रश्न– द्रव्य और गुणों में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद किसप्रकार से है ?

उत्तर– निश्चयस्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जिसप्रकार हिमालय और विंध्याचल में भिन्नपना है अथवा एक ही क्षेत्र में स्थित जल और दूध में जिसप्रकार भिन्न प्रदेशपना है वैसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों में नहीं मानते, साथ ही साथ एकांत से द्रव्य और गुणों का एकपना भी नहीं मानते। अभिप्राय यह हुआ कि जिसप्रकार द्रव्य और गुणों में प्रदेशों

की अपेक्षा से अभिन्नत्व है; उसीप्रकार संज्ञा, संख्या, लक्षणादि की अपेक्षा से भी अभिन्नत्व है—एकत्व है, ऐसा नहीं मानते; अर्थात् एकांत से द्रव्य और गुणों का न तो सर्वथा एकत्व मानते हैं और न सर्वथा भिन्नत्व ही। अपेक्षा के बिना एकत्व और अन्यत्व में से एक भी नहीं मानते; हाँ, भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की एकता से एकत्व है और संख्या, संज्ञादि की अपेक्षा से द्रव्य और गुणों में अन्यत्व है—ऐसा आचार्य मानते हैं। यही श्री जयसेनाचार्य-पंचास्तिकाय टीका गाथा ४५ में है।

प्रश्न- मनुष्य का कर्तव्य क्या? मानवधर्म क्या? कृपया बतलाइए।

उत्तर- अरे भाई! सर्व प्रथम तो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी मान्यता ही महान भ्रम है। मनुष्यपना तो संयोगी पर्याय है, जीव-पुद्गल के संयोगरूप असमान जातीय पर्याय है, आत्मा का स्वरूप तो नहीं। अतः मनुष्य पर्याय वह मैं नहीं, मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा समझना, यही सबसे प्रथम कर्तव्य है-धर्म है। मनुष्यभव प्राप्त करके यदि कुछ करनेयोग्य है तो यही है। इसके विपरीत 'मैं मनुष्य ही हूँ' ऐसा मानकर जो कुछ भी क्रियाकलाप करने में आता है, वह सब व्यवहारमूढ़ अज्ञानीजीवों का व्यवहार है।

प्रश्न- अनादि के अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले तो अकेला विकल्प ही होता है न?

उत्तर- नहीं, अकेला विकल्प नहीं। स्वभाव तरफ ढलते हुए जीव को विकल्प होने पर भी उसी समय 'आत्मस्वभाव की महिमा का लक्ष्य' भी काम करता है और उस लक्ष्य के बल पर ही वह जीव आत्मा की और आगे बढ़ता है; कहीं विकल्प के बल पर आगे नहीं बढ़ता। राग की ओर का जोर झुकाव हानिगत होने लगा और स्वभाव की तरफ का जोर-झुकाव वृद्धिंगत होने लगा, वहाँ (सविकल्प दशा होने पर भी) अकेला राग ही काम नहीं करता; परंतु राग के अवलंबन बिना, स्वभाव की तरफ जोरवाला-झुकाववाला एकभाव भी अंतरंग में वहाँ कार्य करता है और उसी के बल पर आगे बढ़ता-बढ़ता, पुरुषार्थ की कोई अपूर्व छलांग लगाकर निर्विकल्प आनंद का वेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न- वर्तमान में कोई केवलज्ञानी दिखाई नहीं देता, अतः केवलज्ञान सिद्ध नहीं होता?

उत्तर– केवलज्ञान असिद्ध नहीं है—ऐसा कषायप्राभृत-जयधवला पुस्तक १, पृष्ठ ४४ में कहा है। क्योंकि स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाधपने उपलब्धि होती है, अर्थात् मतिज्ञानादिक केवलज्ञान के अंशरूप हैं और उनकी उपलब्धि स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से सभी को होती है, इसलिये केवलज्ञान के अंशरूप अवयव प्रत्यक्ष हैं और अवयव के प्रत्यक्ष होने पर अवयवी (केवलज्ञान) को परोक्ष कहना युक्त नहीं है।

प्रश्न– शास्त्र-पठन का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर– शास्त्रों का तात्पर्य तो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा बतलाना है, ऐसे आत्मा का ज्ञान होना ही शास्त्र पढ़ने का तात्पर्य है। जो जीव ऐसे आत्मा को नहीं जानते, उन्होंने वास्तव में शास्त्र पढ़ा ही नहीं। ज्ञानस्वभावी आत्मा राग से भी भिन्न है—ऐसा बतलाकर शास्त्र ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन कराते हैं और राग का अवलंबन छुड़ाते हैं—यही शास्त्र का तात्पर्य है, यही शास्त्र पढ़ने का गुण है। भिन्न वस्तुभूत शुद्धज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान का जिसके अभाव है, उसको शास्त्र पठन के फल का भी अभाव है—अर्थात् वह अज्ञानी है। अतः राग से पार शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप जानकर उसका ही आश्रय करना योग्य है।

प्रश्न– अज्ञानी जीव को मोक्ष की श्रद्धा है या नहीं ?

उत्तर– मोक्ष की श्रद्धा अज्ञानी को नहीं है, क्योंकि शुद्धज्ञानमय आत्मा को वह जानता नहीं; इसलिये उसको मोक्ष की भी श्रद्धा नहीं और मोक्ष की श्रद्धा हुए बिना चाहे जितने शास्त्र पढ़ जाये तथापि आत्मा का लाभ नहीं हो सकता—सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रों का हेतु तो शुद्धज्ञानमय आत्मा दर्शाकर मोक्ष के उपाय में उद्यमवंत करना है, परंतु जिसे मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं उसे शास्त्र पढ़ना कैसे गुणकारी होगा ? ग्यारह अंग पढ़ने पर भी अभव्य अज्ञानी रहता है।

प्रश्न– आप व्यवहार को हेय कहते हैं तो क्या व्यवहार है ही नहीं ?

उत्तर– व्यवहार है भले ही—परंतु मोक्षमार्ग उसके आधार से नहीं है। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। जिसप्रकार परद्रव्य है—इसलिये

स्वद्रव्य है—ऐसी मान्यता में स्व-पर की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है; उसीप्रकार रागरूप व्यवहार है तो उसके कारण से निश्चय है—ऐसी मान्यता में स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। साधक को सुख के साथ किंचित् दु:ख भी है, दोनों धारायें (एक बढ़ती हुई और दूसरी घटती हुई) साथ ही वर्तती हैं; तो क्या वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण से हैं ? नहीं। दोनों साथ होने पर भी दु:ख है इसलिये सुख हैं ?—ऐसा नहीं; उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार साथ होने पर भी क्या व्यवहार है इसलिये निश्चय है ?—ऐसा नहीं। व्यवहार के आश्रय से बंधन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है—ऐसे दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप से वर्तते हैं।

समाचार दर्शन

सोनगढ़ : पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी राजकोट में १५ दिन तक अध्यात्म वर्षा करके पुन: सोनगढ़ पधार गये हैं। उनका स्वास्थ्य ठीक है। सोनगढ़ में प्रात: एवं दोपहर को उनके आध्यात्मिक प्रवचन एवं रात्रि में तत्त्वचर्चा नियमितरूप से चालू है।

शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर का भव्य उद्घाटन : आत्मार्थियों की भारी भीड़

वाशीम (महाराष्ट्र) : दिनांक १९-५-८० को यहाँ धर्मशिक्षण समिति महाराष्ट्र द्वारा आयोजित श्री वीतराग-विज्ञान चौदहवाँ शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर का शुभारंभ हुआ। जिनवाणी की शोभायात्रा के पश्चात् प्रात: ७.३० पर पंडित नेमीचंदजी पाटनी आगरावालों ने झंडारोहण किया। तत्पश्चात् ८ बजे ब्रह्मचारी माणिकचंदजी चंवरे, न्यायतीर्थ, कारंजा की अध्यक्षता एवं श्री शांतिलालजी लोहाड़े के मुख्य आतिथ्य में समारोह का विधिवत् उद्घाटन डॉ० भागचंदजी जैन, डी० लिट्०, अध्यक्ष पाली-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा संपन्न हुआ। सभी समागत विद्वानों, अध्यापकों तथा अतिथियों का माल्यार्पण कर स्वागत किया गया। ट्रस्ट के महामंत्री श्री

नेमीचंदजी पाटनी ने पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर द्वारा संचालित विभिन्न गतिविधियों एवं शिविर का संक्षिप्त परिचय दिया।

डॉ० भागचंदजी ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा—''पूज्य कानजीस्वामी इस युग के महान क्रांतिकारी युगपुरुष हैं। आपने धर्म के वर्तमान विकृत स्वरूप को परिमार्जित करके उसके विशुद्ध स्वरूप को प्रचारित किया है। पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर भी धर्म के सही स्वरूप को आगे बढ़ाने का संकल्प लिए हुए है। यह चौदहवाँ प्रशिक्षण-शिविर है। इन शिविरों में अभी तक लगभग दो हजार से भी अधिक अध्यापक ट्रेण्ड हो चुके हैं। हमारी कामना है कि ऐसे शिविर, एक नहीं—अनेक, इस महाराष्ट्र की भूमि पर लगें और घर-घर में वीतराग-विज्ञान का प्रचार हो।''

डॉ० भारिल्लजी ने शिक्षण व प्रशिक्षण के अंतर को स्पष्ट करते हुए श्री वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर के प्रत्येक शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। आपने कहा—''जैनधर्म में विज्ञान शब्द कोई नया नहीं है। हजारों वर्ष पहले भी इस शब्द का उल्लेख जिनवाणी में मिलता है कि जब वर्तमान भौतिक आदि विज्ञानों का नामोनिशान भी नहीं था। पंडित दौलतरामजी, पंडित टोडरमलजी, पंडित बनारसीदासजी तथा और पीछे जाओ तो आचार्य अमृतचंद्रजी ने 'वीतराग-विज्ञान' या भेदविज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। वही इस युग में पूज्य स्वामीजी ने दुनिया के सामने रखा है।''

जैनधर्म विज्ञान है या कला? इस प्रश्न का आपने संयुक्तिक तर्कसंगत विश्लेषण करते हुए बताया कि यह कलात्मक विज्ञान है और वैज्ञानिक कला है।

मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए श्री शांतिलालजी लोहाड़े ने कहा—''टोडरमल स्मारक संस्था तत्त्वज्ञान के प्रचार व प्रसार के क्षेत्र में बहुत कार्य कर रही है। धर्म के क्षेत्र में जो त्रुटियाँ आयी हैं, उनमें सुधार करके सद्धर्म का प्रचार करना ही इसका उद्देश्य है।''

समारोह के विशेष अतिथि पंडित दत्तोपंतजी लोखंडे ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा—''महाराष्ट्र की जनता में धर्म प्रेम है, तभी तो इस शिविर में हजारों लोग अपना कारोबार छोड़कर ऐसी भीषण गर्मी में बाहर से यहाँ आये हैं। यहाँ पढ़ाये जानेवाले तत्त्वज्ञान से आत्मा का कल्याण होगा।''

मध्याह्न प्रशिक्षण कक्षाओं का उद्घाटन श्री बाजीरावजी सरावगी जलगाँव की अध्यक्षता तथा श्री इंदरचंद विनायके के मुख्य आतिथ्य में श्री मगनलालजी संघी अंजनगाँवसुर्जी ने किया। उद्घाटक, मुख्य अतिथि एवं अध्यक्ष के भाषणोपरांत डॉ० भारिल्लजी ने प्रशिक्षण कक्षाओं का शुभारंभ किया।

शिविर में पधारे हुए अन्य समागत विशिष्ट लोगों में श्री कांतिलालजी बम्बई, श्री हुकमचंदजी गहाणकरी नागपुर, श्री राजकुमारजी डोंगगाँवकर एवं विद्वत्गण पंडित श्री धन्यकुमारजी भोंरे कारंजा, पंडित गजाबेन आदि मुख्य हैं।

सभी कार्यक्रम स्थानीय बाकलीवाल विद्यालय में चल रहे हैं। इसके संस्थापक बाकलीवाल साहब एवं प्राचार्य महोदय श्री एल० ए० मानेकर साहब आदि सभी स्थानीय कार्यकर्ता बड़ी लगन से सब कार्य संभाल रहे हैं। सभी कार्यकर्ता रात-दिन शिविर की व्यवस्था में जुटे हुए हैं। परिणामस्वरूप आवास, भोजन, पानी, नल तथा बिजली आदि की समुचित व्यवस्था उपलब्ध है।

शिवरि में एक हजार से अधिक व्यक्ति लाभ लेने के लिये बाहर से आये हुए हैं, जिनके आवास, भोजन आदि की समुचित व्यवस्था नि:शुल्क रूप से की गयी है। प्रबंध अति उत्तम है।

हिंदी एवं मराठी भाषा में बाल-शिक्षण की बारह कक्षाऐं नियमित चलरही हैं, जिनमें ५०१ छात्रों का नामांकन हो चुका है। बालबोध प्रशिक्षण में २८३, प्रवेशिका-प्रशिक्षण में ४२ तथा प्रौढ़ शिक्षण में भी लोग भारी संख्या में सम्मिलित हुए हैं, जिनका अभी नामांकन संभव नहीं हो सका है।

यह शिविर १९ मई से ७ जून तक चलेगा। इसमें दार्शनिक विद्वान डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, वाणीभूषण पंडित ज्ञानचंदजी, पंडित रतनचंदजी भारिल्ल, पंडित नेमीचंदजी पाटनी, पंडित केशरीचंदजी 'धवल', पंडित मधुकरजी शास्त्री, डॉ० प्रियंकर यशवंत जैन, पंडित प्रदीपकुमारजी झांझरी आदि अनेक विद्वानों का प्रवचन, प्रशिक्षण, बाल-शिक्षण, प्रौढ़-शिक्षण तथा तत्त्वचर्चा आदि कार्यक्रमों में सक्रिय सहयोग प्राप्त हो रहा है। सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता पंडित बाबूभाई मेहता भी ३० मई तक पधार आवेंगे।

विशिष्ट अतिथियों के रूप में सर्वश्री साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन बम्बई, सेठ लालचंद हीराचंद दोशी बम्बई, सेठ पन्नालालजी गंगवाल कलकत्ता, सेठ रतनलालजी गंगवाल कलकत्ता, सेठ पूरणचंदजी गोदीका जयपुर आदि महानुभाव पधार रहे हैं।

प्रतिदिन होनेवाले 'भगवान महावीर और उनके सिद्धांत' विषय पर डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के प्रवचन शिविर में विशेष आकर्षण के केंद्र हैं। खचाखच भरे प्रवचन मंडप में तीन हजार से भी अधिक श्रोताओं की उपस्थिति रहती है। अत: ५ बजे से रात्रि १० बजे तक लगभग ११ घंटे का व्यस्त कार्यक्रम नियमित चल रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक हुए शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों में यह शिविर सभी दृष्टियों से आशातीत सफलता प्राप्त करेगा। इस शिविर की संपूर्ण व्यवस्था में श्री ब्रह्मचारी धन्यकुमारजी बेलोकर तथा डॉ० विजयलक्ष्मी पांगल का महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिनके विशेष प्रयासों से इतनी सुंदर व्यवस्था संभव हो सकी है।

कारंजा (महाराष्ट्र) :- ११ मई को आध्यात्मिक प्रवचनकार पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा पधारे। आपके प्रभावशाली प्रवचनों से समाज को अभूतपूर्व लाभ हुआ। आपने १९ मई से वाशीम में होनेवाले शिविर का महत्त्व समझाते हुए शिविर में आने की प्रेरणा दी। वहाँ से १३ मई को आप वाशीम पधारे। आपके वाशीम में १३ मई से १८ मई तक प्रतिदिन दो प्रवचन हुए जिसमें शिविर की अच्छी पृष्ठभूमि तैयार हुई।

— ब्रह्मचारी धन्यकुमार बेलोकर

वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव सानंद संपन्न

इंदौर (म०प्र०) :- नेमीनगर जैन कालोनी में दिनांक ३ मई से ५ मई तक पंडित सरदारीलालजी दोशी द्वारा पंडित नाथूलालजी के मार्गदर्शन में वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव संपन्न हुआ। स्वाध्याय भवन में नवनिर्मित वेदी में भगवान शांतिनाथ की पाषाण प्रतिमा विराजमान की गयी। इस अवसर पर पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, ब्रह्मचारी हेमचंदजी भोपाल एवं डॉ० देवेंद्रकुमारजी शास्त्री नीमच के पधारने से जनसाधारण को लोकप्रिय शैली में हुए शास्त्र प्रवचनों एवं तत्त्वचर्चा के माध्यम से अपूर्व लाभ मिला। प्रात: पंच परमेष्ठी मंडल विधान एवं शास्त्र प्रवचन, दोपहर को शास्त्र प्रवचन व चर्चा तथा रात्रि में भी प्रवचन, भक्ति, संगीत आदि कार्यक्रम होते थे। ५ मई को प्रात: विशाल रथयात्रा का आयोजन किया गया।

— प्रो० जमुनालाल जैन

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं में पुरस्कार वितरण

जयपुर (राज०) :- तारीख १४-५-८० को श्री दिगम्बर जैन मंदिर सिवाड़ बाकलीवालान में श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिंटर्स की अध्यक्षता में श्री वीतराग-विज्ञान पाठशाला का वार्षिकोत्सव आयोजित किया गया। इस अवसर पर डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल का सम्यक्त्व-सम्मुख मिथ्यादृष्टि प्रकरण पर सारगर्भित प्रवचन हुआ।

मंत्री श्री महावीरप्रसादजी पापड़ीवाल द्वारा पाठशाला की गतिविधियों पर प्रकाश डाला गया। बालबोध पाठमाला भाग १, २ एवं ३ तथा वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ की परीक्षाओं में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त छात्रों को विशेष पुरस्कार प्रदान किये गये तथा सभी उत्तीर्ण छात्रों को भी प्रमाण-पत्र एवं पुरस्कार वितरण किया गया। पाठशाला के अध्यापक श्री संजयकुमार बंसल को भी विशेष पुरस्कार दिया गया। पंडित अभयकुमारजी ने छात्रों को संबोधित करते हुए उनका उत्साहवर्धन किया।

पुरस्कार वितरण का संपूर्ण व्यय श्री ताराचंदजी गंगवाल चौमूंवालों ने वहन किया। उनकी सुपुत्री भंवरबाई सौगानी की ओर से पाठशाला को ५०) रुपये मासिक सहायता प्रदान की जाती है।

बड़ौत (गुज०) :- दिनांक १२-५-८० को समाज के मंत्री लाल जगदीशप्रसादजी जैन द्वारा बालबोध की परीक्षा में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त छात्रों को पुरस्कृत किया गया। इस वर्ष १६५ छात्रों ने परीक्षा दी है। इस अवसर पर अध्यापक सुमतिप्रसादजी के निर्देशन में छात्रों द्वारा पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर किये गये एकांकी, भाषण, कविता पाठ द्वारा जनता बहुत प्रभावित हुई।

भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की प्रबंधकारिणी कमेटी की मीटिंग संपन्न

सूचित करते हुए अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की प्रबंधकारिणी कमेटी की एक सभा ऐलाचार्य श्री विद्यानंदजी महाराज एवं मुनिश्री आर्यनंदीजी महाराज के सान्निध्य में दिनांक १२-५-८० को भरते हाईस्कूल ग्राउंड, बेलगाम में संपन्न हुई। जिसमें भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी का वीर सं० २५०५ (वि० सं० २०३५-सन् १९७८-७९) का आडिटेड हिसाब एवं १९७९-८० का अनुमान-पत्रक (बजट) स्वीकृत किया गया।

— जयचंद डी० लोहाड़े, महामंत्री

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, विदिशा (म०प्र०) शाखा के चुनाव संपन्न

दिनांक १६-५-८० को अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा विदिशा की कार्यकारिणी का चुनाव पंडित नंदकिशोरजी गोयल की अध्यक्षता में संपन्न हुआ, जिसमें निम्न पदाधिकारी चुने गये :—

अध्यक्ष-श्री सुभाषचंद मोदी उपाध्यक्ष-श्री अरविंदकुमार मंत्री-श्री लालजीराम जैन
कोषाध्यक्ष-श्री सत्येंद्र लश्करी सहमंत्री-सर्वश्री दीपक, संजय एवं विक्रम जैन

पाठकों के पत्र

अहमदाबाद से श्री सोमेशभाई लिखते हैं:-

अनंत उपकारी चैतन्यमूर्ति पूज्य गुरुदेव की जीवनकथा 'कहान कथा : महान कथा' के माध्यम से पढ़कर बहुत आनंद आता है। आशा है उनके जीवन से प्रेरणा लेकर हम सभी आत्महित में संलग्न होंगे।

धामनौद से श्री केसीरमलजी बी०ए० लिखते हैं:-

आत्मधर्म मिला। चित्रकथा 'कहान कथा : महान कथा' बहुत सुंदर एवं उपयोगी बन रही है। यह सब श्री भारिल्लजी की सूझ-बूझ एवं लगन का फल है जो आत्मधर्म हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ पत्र बन रहा है।

अहमदाबाद से श्री बाबूभाई गोपालदासजी लिखते हैं:-

अत्यंत आनंद और गौरव का विषय है कि क्रमबद्धपर्याय के बाद एक और कठिन विषय पर संपादकीय लेखमाला प्रारंभ हुई है। प्रारंभ के दो लेख बहुत ही अच्छे रहे। आदरणीय डॉ० साहब जिस विषय को लेते हैं, वह सहज ही समझ में आ जाता है। आशा है कि इस विषय को भी सरल बना देंगे। उनकी लेखनशैली और प्रवचनशैली दोनों बहुत बढ़िया है। सनातन दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में हम उनकी संपूर्ण सफलता चाहते हैं।

टीकमगढ़ (म०प्र०) से श्री हेमचंदजी जैन लिखते हैं:-

आत्मधर्म में अप्रेल अंक से जो नयचक्र का संपादकीय प्रारंभ किया गया है, वह वास्तव में प्रत्येक मुमुक्षु को जानने योग्य है। नयचक्र के ज्ञान बिना जैनधर्म का स्वरूप समझना असम्भव है। डॉ० भारिल्लजी द्वारा विभिन्न ग्रंथों की प्रामाणिकता को लिये बोधगम्य शैली में यह लेख अवश्य ही पाठकों के ज्ञानवर्धन एवं जिनवचन समझने में सहायक होगा।

बुरहानपुर (म०प्र०) से श्री विजयकुमार जैन लिखते हैं:-

आत्मधर्म पत्रिका के माध्यम से आत्मा का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रत्येक स्तम्भ ज्ञानज्योति से प्रकाशमान रहता है। काश यह पत्रिका मासिक न होकर साप्ताहिक होती तो कितना अच्छा रहता।

कहान कथा : महान कथा

आलेख : अखिल बंसल, एम. ए.
चित्रकथा : अनन्त कुशवाहा

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

समयसार	१४-००
मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	७-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
वृहद् द्रव्यसंग्रह	८-००
समयसार नाटक	७-५०
द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग ३	४-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	७-००
समयसार प्रवचन भाग ३	७-००
समयसार प्रवचन भाग ४	८-००
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	५-००
धर्म की क्रिया	२-००
श्रावकधर्म प्रकाश	४-००
द्रव्यसंग्रह	१-५०
प्रवचन परमागम	२-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-५०
जैनतत्त्व मीमांसा	६-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
वीतराग-विज्ञान भाग ३	१-००
मुक्ति का मार्ग	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	०-६०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-८५
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-४०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-४०
A Short Reader to Jain Doctrines	०-७५

Tirthankar Bhagwan Mahavira		०-४०
Know Thyself		०-४०
मोक्षमार्गप्रकाशक		६-००
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		११-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
'' '' (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००
धर्म के दशलक्षण	साधारण :	४-००
	सजिल्द :	५-००
क्रमबद्धपर्याय	साधारण :	२-५०
	सजिल्द :	३-५०
	प्लास्टिक कवर :	४-५०

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४